# नवनैतिकता के आयाम: गमे इश्क भी, गमे रोजगार भी

प्रफुल्ल कोलख्यान

> **‘आर्थिक उत्पीड़न अनिवार्यत: हर प्रकार के राजनीतिक उत्पीड़न और सामाजिक अपमान को जन्म देता है तथा आम जनता के आत्मिक और नैतिक जीवन को निकृष्ट और अंधकारपूर्ण बना देता है। जब तक पूँजी की सत्ता का उन्मूलन नहीं कर दिया जाता तब तक स्वतंत्रता की कोई भी मात्रा उन्हें दैन्य, बेकारी और उत्पीड़न से नजात नहीं दिला सकती!’[1]**

1. विभिन्न अवसरों पर विभिन्न मंचों से सभ्यता के संकट की बात की जाती है। कुछ लोग संकट का ऐसा तुमार बाँधते हैं कि लगता है सबकुछ समाप्त होने के कगार पर है। दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनकी बातों से ऐसा लगने लगता है कि कहीं कोई संकट नहीं है। सबकुछ हरा-भरा है। दुनिया इसी तरह चलती रही है। अत: ‘खाओ-पीओ, मौज करो!’– बात इतनी सरल नहीं है। यह सच है कि सबकुछ समाप्त होने के कगार पर नहीं है, लेकिन संकट है और गहरा है। सभ्यता विकास के दौरान एक-से-बढ़कर-एक विपदाओं का मुकाबला करते हुए मनुष्य आगे बढ़ता आया है। सभ्यता विकास का मार्ग निष्कंटक कभी नहीं रहा है,

अलग-अलग दौर के संकटों का चरित्र जरूर भिन्न रहा है। युग परिवर्त्तन के साथ ही नैतिक आयाम में भी परिवर्त्तन हो जाता है। नैतिकता मनुष्य की सामाजिक चेतना की ही परम अभिव्यक्ति होती है। समाज के लोग अपने और अपने समाज के अन्य सदस्यों के आचरण के नियमन के लिए नैतिक मान्यताओं की विरासत को आत्मार्पित करते हैं। कानून का राज्य से और नैतिकता का समाज से संबंध होता है। कानून दिमाग से और नैतिकता मन से समझी जाती है। नैतिकता आर्थिक तथा अन्य सामाजिक संबंधों में परिवर्त्तनों के दौरान स्वत: विकसित, स्वत:स्फूर्त ढंग से गठित तथा सामान्य रूप से स्वीकृत होती है। नैतिक मान्यताओं को कोई जारी नहीं करता बल्कि जीवन-यापन के दौरान ये स्वत: विकास पाती हैं। कानून से नैतिकता इस अर्थ में भिन्न है कि व्यक्ति द्वारा नैतिक अपेक्षाओं के पालन को समाज नियंत्रित करता है, नैतिकता सरकारी कर्त्तव्यों की तरह नहीं होती, नैतिक अपेक्षाओं को ज्ञान से अधिक विवेक, तर्क से अधिक भावना के समर्थन की जरूरत होती है। 'नैतिक-समाज से विधि-समाज में परावर्तन संस्कृति पर राजनीति के वर्चस्व को स्थापित करता है। यद्यपि विधि-समाज संस्कृति-समाज की कतिपय विकृतियों को दूर करने में और तेजी से बदलते परिप्रेक्ष्य की अनुकूलता में बांछित जीवन-शैली की मान्यताओं की दृष्टि से अधिक उपयुक्त होता है तथापि यह काम समग्रता,सार्थकता और सफलता से तभी संभव हो सकता है जब संस्कृति-समाज के विधि समाज में और विधि-समाज के संस्कृति-समाज में परावर्तन की अबाध प्रक्रिया जारी रहे। ऐसा नहीं होने पर विधि-समाज एक अनैतिक-समाज बनकर रह जाता है। इसकी स्वाभाविक परिणति यह होती है कि नैतिकता संविधान की धाराओं में मुँह चुराती फिरती है और विधि-समाज का नेता क्रिकेट-ग्राउंड और फुटबॉल-ग्राउंड की स्थिति को तो स्वीकार करता है लेकिन मोरल-ग्राउंड की अवहेलना बड़ी आसानी से कर जाता है। पारंपरिक मान्यताओं के अनुसार और उसकी संगति में कानून के न बनने और कानूनी संगति के अनुसार मान्यताओं की परंपरा विकसित न होने से नैतिकातीत विधि-समाज में घोड़ा और घास दोनों एक साथ अपने अस्तित्व रक्षा के लिए अपने-अपने तरीके से सक्रिय और संघर्षशील होते हैं।'[2] नैतिकता व्यक्तिगत भावनाओं और सामाजिक मान्यताओं में सामंजस्य और संतुलन बनाती है। खंडित समाज में विवेक भंजित रहता है; विखंडित समाज में नैतिकता भी विभाजित रहती है। इसलिए, सामाजिक संतुलन में विचलन की स्थिति बनी रहती है। 'नैतिकता की समस्या' सभ्यता-संकट के चरित्र की बीज-समस्या रही है। विषमता की गहरी घाटी में तेजी से फँसती जा रही सभ्यता की क्षिप्र मति-गति के दबाव और तनाव के कारण 'नैतिकता की समस्या' आज भयावह है। एक बड़ी चुनौती 'नैतिकता की समस्या' के वास्तविक रूप और चरित्र को उद्घाटित करने की है, उस तोते को पहचानने की है जिसमें इस संकट के प्राण बसते हैं।

1.1 ‘युग-पविर्त्तन’ के बाद ‘नैतिक आयाम में परिवर्त्तन’ होता है या ‘नैतिक आयाम में परिवर्त्तन’ के बाद ‘युग-परिवर्त्तन’ होता है? ‘पहले मुर्गी, कि पहले अंडा’ जैसे संदर्भों में इसे नहीं देखना चाहिए। परिवर्त्तन की बहुतेरी प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रहती है। सारे परिवर्त्तन ‘युग-परिवर्त्तन’ के अंतर्वर्त्ती होते हैं। कहना न होगा कि कुछ अंतवर्त्ती प्रक्रियाएँ अंतर्घाती भी होती हैं। संरचना और भौतिक विकास का नैरंतर्य, कभी तेज तो कभी मंद गति से बना रहता है। भौतिक और वैज्ञानिक विकास का समाजिक प्रतिफलन बहुत तेजी से प्रकट हुआ है। उतनी ही तेजी से नैतिक चेतना का विकास नहीं हो सका है। विज्ञान के उपकरणों का जीवन में जितना दखल बढ़ा है, नैतिक संकाय उतना दृढ़ नहीं हुआ है। नतीजा यह है कि इतने विकास के बावजूद मनुष्य का दुख कम होने के बदले लगातार बढ़ ही रहा है। वैज्ञानिक विकास के लाभ का वितरण मानवीय गरिमा की मार्यादा का उल्लंघन करता गया है। वैज्ञानिक विकास के लाभ को ‘संपन्नों’ ने अपने पक्ष में मोड़ लिया है। प्रकृति में न्यस्त संतुलन और प्राकृतिक संसाधनों की स्वचालित वितरण व्यवस्था वैज्ञानिक शक्तियों के दुरुपयोग से बाधित हुई है। आज धूप हो, चाँदनी, हवा, आकाश, समुद्र, नदी या पहाड़ आदि ही क्यों न हो इन पर सबके अधिकार समान नहीं हैं। मनुष्य की ‘निर्मिति’ का ही नहीं ‘प्रकृति’ का भी ‘पब्लिक-स्फीयर’[3] संकुचित हो रहा है। विश्वव्यापी पर्यावरण संकट का चरित्र है कि इसकी चपेट में वे लोग और समुदाय सबसे ज्यादा हैं, जो संकट पैदा करनेवाले संदर्भों के लाभ से सबसे ज्यादा बंचित हैं। मनुष्य आज उपलब्ध के अनुपलब्ध होने के दंश से त्रस्त है, जैसे ‘जल बीच मीन प्यासी’[4] है। वैज्ञानिक विकास अंतत: आर्थिक विकास में परिघटित होता है। जिस वैज्ञानिक विकास के लाभ के वितरण में भारी विषमता के बीज हैं उस वैज्ञानिक विकास का आर्थिक विकास में परिघटन भी तार्किक रूप से भारी विषमता को ही जन्म देता है। इस विषमता से सभ्यता के नैतिक संतुलन में भारी विचलन आया है। इस विचलन का ही नतीजा है कि एक ओर ‘स्वतंत्रता’ को ‘समृद्धि’ में बाधक बताकर ‘नि:शर्त्त समर्पण’ को जीवन की अनिवार्य शर्त्त बनाया जाता है तो दूसरी ओर ‘स्वतंत्रता’ को ‘समानता’ का विरोधी बताकर ‘विषमता’ को उसकी अनिवार्य परिणति के रूप में लक्षित किया जाता है। ‘सब कुछ को छोड़कर मेरे शरण में आओ’[5] गीता का नैतिक संदेश है तो ईसाई नैतिकता भी ईश्वर की अनुकंपा में बिना शर्त्त आस्था को मनुष्य का सर्वोच्च नैतिक सद्गुण मानती है। यह कोई बिल्कुल नई भावना नहीं है। ‘समर्पण’ और ‘बिना शर्त्त आस्था’ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इन्हें मनुष्य के नैतिक आयाम से जोड़ा गया था आज वह परिप्रेक्ष्य बदल चुका है। परिप्रेक्ष्य बदल जाने के बावजूद प्रवृत्ति नहीं बदली है। दुखद यह है कि सभ्यता विकास के साथ विश्व-नैतिकता के अंतस्संबंधों को

'समानता' से गहराने के बदले 'समर्पण' से ही बनाने पर नये सिरे से जोर दिया जा रहा है। मतलब यह कि बौद्धिक-विमर्श में 'स्वतंत्रता' 'समृद्धि' और 'समानता' परस्पर विरोधी तार्किकता में उपस्थित करते हुए 'सामंजस्य' को 'शरणागति' के 'उत्तर-चरित्र' के रूप में पेश किया जा रहा है।

1.2 'स्वतंत्रता'और 'समानता' मनुष्य की जन्मजात 'नैतिक आकांक्षा' है। जन्मजात होने से ये आकांक्षाएँ मौलिक भी हैं। मौलिक आकांक्षा होने के कारण इनके लक्षित वैपरीत्य में विरोध का सिर्फ आभास हो सकता है, प्रतीति हो सकती है, यथार्थ नहीं हो सकता है – वृक्ष की जड़ नीचे की ओर आगे बढ़ती है और फुनगी आकाश की ओर लपकती है। वृक्ष की जड़ और फुनगी के आगे बढ़ने की दिशा का वैपरीत्य एक दूसरे का विरोधी नहीं है। सभ्यता 'नैतिक आकांक्षाओं' के अविभाज्य और 'नैसर्गिक संबंध' की बार-बार पुष्टि करती आई है। देखना दिलचस्प होगा कि 'स्वतंत्रता' और 'समानता' की इस नव-अन्वेषित पारस्परिक विरोधिता का मनुष्य की 'नैतिक आकांक्षा' के साथ कैसा संबंध बनाने का प्रयास किया जा रहा है। इस प्रयास से उत्पन्न 'नैतिक संकट', जिन अर्थों में इसे 'नैतिक विचलन' अथवा 'नैतिक संक्रमण' भी कहा जा सकता है, का गहरा संबंध है। 'नैतिक आकांक्षा' की  आत्मसंगतियों को समझने के लिए, 'स्वतंत्रता' और 'समानता' के अंतर्संबधों के आयामों, अंधबिंदुओं, इनकी आंतरिक संयुक्तियों, वियुक्तियों और अंतर्विरोधों को तो समझना ही होगा साथ ही उनमें अंतर्निहित सामंजस्य के नये बिंदु और नई रेखाओं की संभावनाओं को भी उद्घाटित करना होगा। 'विरुद्धों में भी सामंजस्य' सभ्यता की निर्मिति में विन्यस्त प्रवृत्ति है, चिंता की बात यह है कि इधर सभ्यता को अपने पदाघात से गतिशील बनाने के गरूर में विश्व-शक्तियों की ओर से 'अ-विरुद्धों में अ-सामंजस्य' की स्थिति निर्मित कर सभ्यता को संघाती बनाने की अ-नैतिक मुहिम चलाई जा रही है। इसलिए, इस अ-नैतिक मुहिम से नव-नैतिकता के अनिवार्य संघात की बढ़ती आशंकाओं को भी ध्यान में रखना जरूरी है। (देखें 1.13)

1.3 उत्पादन , वितरण और समाज विकास के विभिन्न चरणों में मानवीय संबंधों में बदलाव का असर 'जनता की चित्तवृत्ति' पर पड़ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जनता की चित्तवृत्ति में होनेवाले बदलाव को युग पविर्त्तन का लक्षण मानते थे। प्रेमचंद भी मानते थे कि 'समाज का संगठन आदिकाल से आर्थिक भीत्ति पर होता आ रहा है। जब मनुष्य गुफाओं में रहता था, उस समय भी उसे जीविका के लिए छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनानी पड़ती थीं। उनमें आपस में लड़ाइयाँ भी होती रहती थीं। तब से आज तक आर्थिक नीति ही संसार का

संचालन करती चली आ रही है, और इस प्रश्न से आँखें बंद करके समाज का कोई दूसरा संगठन चल नहीं सकता।'[6] पिछले बीस-पच्चीस साल में युगांतकारी भौतिक परिवर्त्तन हुए हैं। परिवर्त्तन यह कि 'आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी ज्ञान के आधार पर दुनिया इतनी आजाद पहले कभी नहीं थी और न इतनी अन्यायपूर्ण !'[7] मुट्ठी भर लोगों ने दुनिया मुट्ठी में कर ली है! थोड़े-से लोगों के लिए दुनिया 'आजाद' और बहुत सारे लोगों के लिए 'अन्यायपूर्ण' हो गई है। नैतिक-चेतना से मुक्त 'आर्थिक, राजनीतिक और तकनीकी ज्ञान' के आधार पर होनेवाले विकास का व्याकरण विषमता का अनुमोदन करता है। ध्यान में रखना होगा कि 'मानव विकास का महत्त्वपूर्ण आधार है – आजीविका। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ है, रोजगार। लेकिन, परेशान करनेवाला तथ्य यह है कि औद्योगिक और विकासशील देशों की आर्थिक वृद्धि से रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन पा रहे हैं। इसके अलावे आजीविका से बंचित रह जाने की स्थिति, रोजगारविहीन लोगों की योग्यताओं के विकास, महत्त्व और आत्मसम्मान को भी नष्ट कर देती है। ... तेजी से आर्थिक वृद्धि कर रही अर्थव्यवस्था में भी रोजगार के पर्याप्त अवसर नहीं बन रहे हैं।'[8] रोजगार का सवाल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं नैतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। 'विषयभोग' और 'तप' की दो परम अतियों के त्याग और 'मध्यम मार्ग' को अपनाने का संदेश देनेवाले महात्मा बुद्ध ने 'दुखों' से मुक्ति के लिए 'अष्टांगिकमार्ग' का संधान किया था; 'सम्यक् कर्मांत' और 'सम्यक् आजीविका' उनमें से दो मार्ग हैं। यह बात बिल्कुल साफ है कि जिस सभ्यता में 'सम्यक् आजीविका' के अवसर कम होते हैं, उस सभ्यता में 'सम्यक् कर्मांत' का पालन करते हुए भी मनुष्य के दुखों का अंत नहीं हो सकता है। संसार का सबसे बड़ा दुख भूख है। दुनिया में भूख के रहते नैतिकता की बात बेमानी होकर रह जाती है। नैतिकता पर चिंता करनेवालों को भूख के बारे में सोचना होगा, साथ ही आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने के उपायों के बारे में भी साचेना होगा। प्रोफेसर अमर्त्य सेन कहते हैं, 'आधुनिक विश्व से भूख को मिटाने के लिए अकालों की सृष्टि की प्रक्रिया को ठीक से समझना जरूरी है। यह केवल अनाजों की उपलब्धता और जनसंख्या के बीच किसी मशीनी संतुलन का मामला नहीं है। भूख के विश्लेषण में सबसे अधिक महत्त्व व्यक्ति या उसके परिवार की आवश्यक मात्रा में खाद्य भंडारों पर स्वत्वाधिकार स्थापना की स्वतंत्रता का है। यह दो प्रकार से संभव है: या तो किसानों की तरह स्वयं अनाज का उत्पादन करके या फिर बाजार से खरीदी द्वारा। आसपास प्रचुर मात्रा में अनाज उपलब्ध रहते हुए भी यदि किसी व्यक्ति की आय के स्रोत सूख जाएँ तो उसे भूखा रहना पड़ सकता है। ...। कुपोषण, भुखमरी और अकाल सारे अर्थतंत्र और समाज की कार्यपद्धति से भी

प्रभावित होते हैं (केवल खाद्यान्न-उत्पादन और कृषि कार्यों का ही इन पर प्रभाव नहीं पड़ता)। आर्थिक-सामाजिक अंतर्निभरताओं के आज के विश्व में भुखमरी पर पड़ रहे प्रभावों को ठीक से समझना अत्यावश्यक हो गया है। खाद्य का वितरण किसी धर्मार्थ (मुफ्त में ) अथवा प्रत्यक्ष स्वचालित विधि से नहीं होता। खाद्य सामग्री प्राप्त करने की क्षमता का उपार्जन करना पड़ता है। ... खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा/ बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं उपलब्धिता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।'[9] भूख से बचने का एक मात्र रास्ता 'आधिकारिता' है, जो 'सम्यक् रोजगार' से ही संभव है। **रोजगार के अभाव में आदमी हर अच्छे एहसास से दूर होता जा रहा है; 'दुनिया ने तेरी याद से बेगान: कर दिया / तुझ से भी दिलफ़रेब है ग़म रोजगार के'[10]।**

1.4 अन्याय और अनैतिकता सहोदर हैं, विषमता इनकी जननी है। अन्याय और अनैतिक स्थिति में मनुष्य जी नहीं सकता है, इसलिए 'दुनिया मुट्ठी में' करनेवालों को भी कदम-कदम पर न्याय और नैतिकता की जरूरत होती है। इस न्याय और नैतिकता की जरूरत के तहत ऐसे लोग शेष मनुष्यों से अलग अपना गोल बनाते हैं। इस प्रकार मनुष्यता को खंडित करने की अनैतिकता में शामिल होते हैं। मनुष्यता को खंडित कर मनुष्यता को पाने की आत्मविरोधी नैतिक विडंबना आज के भौतिक परिवर्त्तन का दुखद लक्षण है। इन भौतिक परिवर्त्तनों को मनो-रासायानिक परिवर्त्तन में बदलने की प्रक्रिया भी यहाँ से शुरू होती है। कहना न होगा कि भौतिक परिवर्त्तन उस परिवर्त्तन को कहते हैं जिस परिवर्त्तन में बदलाव के सारे कारकों के निजी गुण बने रहते हैं, उनकी सघनता में विषमता होती है, उन्हें पहचाना जा सकता है, विलगाया भी जा सकता है, जबकि रासायनिक परिवर्त्तन में बदलाव के कारकों के निजी गुण विलुप्त होकर एक अलग नया गुण प्रकट होता है, कारकों की अलग-अलग पहचान आसान नहीं होती है, न उन्हें विलगाया जा सकता है। जहाँ तक समाज की बात है, इसके मनोभाव में एक स्तर पर भौतिक और दूसरे स्तर पर रासायनिक परिवर्त्तन की प्रक्रिया साथ-साथ चलती रहती है। भौतिक परिवर्त्तनों के मनो-रासायनिक परिपाक बनने में समय लगता है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति मनो-रासायनिक बदलाव के नये दौर में है। यह प्रक्रिया जटिल होती है। भौतिक परिवर्त्तन के मनोरासायनिक परिवर्त्तन में बदलने की जटिल प्रक्रिया को संक्रमण कहा जाता है। इस नये दौर के संक्रमण की जटिलताओं को समझना होगा। कोई भी संक्रमण अंतर्विरोधमुक्त नहीं होता है। इस संक्रमण के अंतर्विरोध को समझना होगा। अन्य किसी बदलाव की तरह, इस बदलाव में भी कुछ शुभ है, तो कुछ अ-शुभ भी है। कुछ लोग हाते हैं जो हर बदलाव का न सिर्फ स्वागत खुले और

खाली दिमाग से करते हैं, बल्कि बिना ठीक से जाने उसकी माँग भी बढ़-चढ़कर करते हैं। कुछ लोग किसी भी बदलाव से घबड़ाते हैं और बहुत मुश्किल से इसे सवीकार करने के लिए तैयार हो पाते हैं, अक्सर ऐसे लोगों के सिर पर बदलाव लद जाता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो, किसी भी स्थिति को गुण-दोष के आधार पर परखते हैं। समझकर तय करना होगा कि इस संक्रमण के साथ हमारा सलूक कैसा हो, परिवर्त्तन के मनो-रासायनिक परिपाक के पूरा होने के आस-पास तक पहुँचने के बाद उभरनेवाले सामाजिक मूल्य-समुच्चय को पहचानना, उसके हितकर एवं अ-हितकर चरित्र को पकड़ने की कोशिश करना और तदनुसार अपने समाज को समझना, स-तर्क और सन्नद्ध करना दायित्व है।

1.5 समाज को समझनेवाले लोगों ने नैतिकता पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। 'अमरीकी समाजशास्त्री डेविड रिजमेन ने समाजों को उनकी प्रवृत्तियों के आधारों पर, तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। ये हैं :- I. परंपरा -निर्देशित समाज: जो पूर्वजों की बनाई राह पर चलते हैं। इन समाजों में नवाचार कम होते हैं, नई माँगों का दायरा भी कम होता है। II. अंत:प्रेरण द्वारा निदेशित समाज: इन समाजों में निर्णय का आधार व्यक्ति का आंतरिक विवेक होता है। ऐसे समाज के सदस्य संपूर्ण परंपरा को न तो पूजनीय मानते हैं और न सारे नवाचारों को ही स्वीकार्य, ये दोनों को अपने विवेक से परखते हैं। III. अन्य निदेर्शित समाज : ऐसे समाज का सदस्य बाह्य प्रभाव को बड़ी सरलता से ग्रहण कर लेता है। परंपरा की शक्ति क्षीण हो जाती है, अंत:विवेक को विकसित होने का मौका नहीं मिलता है। व्यक्ति को उपभोक्ता बनाये जाने के लिए यह समाज सबसे अधिक उपयोगी होता है। रंगीन मनमोहक विज्ञापनों की बौछार उसे संज्ञा शून्य बना देता है। रिझाने की यह प्रक्रिया बच्चों को भी नहीं छोड़ती है। मनोविज्ञान और समाजविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन से ऐसा संचार तंत्र विकसित करते हैं, जिससे बाल अवस्था से ही व्यक्ति की रूचियाँ और रुझान उपभोगवाद की ओर मोड़ लेने लगती है। यह उपभोग में सुख की परिभाषा खोजने लगता है। यह उपभोगवाद संतोष की कोई सीमा रेखा नहीं तय करता है।'[11] कहना न होगा कि किसी भी जीवंत समाज में इन तीनों ही प्रकार के लक्षण विभिन्न अनुपातों में पाये जाते हैं। 'सुखिया होने और सोने' की स्थिति से बाहर निकलकर 'जागने और रोने' की जरूरत है।[12] जाहिर है कि क्यों, 'आर्थिक विकास को व्यक्तिगत स्पर्धा पर नहीं छोड़ा जा सकता, विकास की सामाजिकता पर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है।'[13] दुनिया को आजाद और न्यायपूर्ण बनाने के लिए, आनेवाले समय के स्वभाव को समझते हुए उसकी संगति में विकास की

सामाजिकता और नैतिक विकास के संकुचित होते 'पब्लिक स्फीयर' के सामाजिक प्रबंध में विषमतारोधी एवं समताकारी प्रवृत्तियों की संभावनाओं को पहचानना तथा बरतना जरूरी है। **विकास के सामाजिक संदर्भ में जनतंत्र के हीर का अंतर्प्रवेश ही एक मात्र रास्ता है। हमारे देश में जनतंत्र की जड़ें बहुत गहरी है लेकिन फल?** फल की मधुरता और पौष्टिकता जनसुलभ नहीं है। इसे जनसुलभ बनाने का काम विकास की यांत्रिकता से ही संभव नहीं है, वितरण की नवनैतिकता भी आवश्यक है। जनतंत्र के अनुदार होते जाने के संदर्भ में फरीद जकारिया कहते हैं, 'भारतीय जनतंत्र के भीतर झाँकने पर जटिल और परेशान करनेवाले यथार्थ दीखता है। हाल के दशकों में भारत अपने प्रशंसकों के मन में बनी छवि से बहुत कुछ बदल गया है। यह नहीं कि यह कम जनतांत्रिक हुआ है, बल्कि एक तरह से यह अधिक जनतांत्रिक ही हुआ है। लेकिन इस में सहिष्णुता, धर्मनिरपेक्षता, कानून के पालन और उदारता की कमी हुई है। और ये दोनों प्रवृत्तियाँ –जानतांत्रिकता और अनुदारता– प्रत्यक्षत: संबंधित हैं।'[14] बावजूद इसके नवनैतिकता की माँग को जनतंत्र के परिप्रेक्ष्य के सही होने पर ही हासिल किया जा सकता है।

1.6 अभिप्राय और प्रयोजन से नैतिकता का गहरा संबंध होता है। 'स्वतंत्रता' और 'समानता' मनुष्य की जन्मजात नैतिक आकांक्षा है। 'किस से किसकी, किस हद तक स्वतंत्रता' और 'किसकी किस से किन मामलों में कहाँ तक समानता' भी विचार का जरूरी मुद्दा है। इस विचार में यह बराबर ध्यान में रखने की जरूरत है कि जब हम मनुष्य कहते हैं तो एक स्तर पर हमारा आशय व्यक्ति-मनुष्य से तो होता ही है, लेकिन अपने वृहत्तर आशय में सामाजिक-मनुष्य से भी होता है। अभिव्यक्ति के किसी एक आशय पर अतिकेंद्रन से विमर्श के विचलन का खतरा हो जाता है। कहना न होगा कि नैतिकता व्यक्ति की सामाजिक-सांस्कृतिक प्रपत्ति है। नैतिकता पर विमर्श की नैतिक जरूरत सामाजिक-सांस्कृतिक सापेक्षता से ही तय होती है। इस सापेक्षता में 'व्यक्ति' और 'समाज' के संबंध के संतुलन बिंदु पर विमर्श को कायम रखना आवश्यक है। विमर्श की एक और कूट-पद्धति पर ध्यान रखना जरूरी है। कई बार हम अपनी अति पर खड़े होकर दूसरे की अतियों में निहित असंगतियों को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाकर बहस तो जीत लेते हैं, लेकिन बात बनती नहीं है। व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। लेकिन यदि किन्हीं खास परिस्थितियों में विकास की 'व्यक्ति सापेक्षता' और 'समाज सपेक्षता' में से किसी एक ही पर टिकने की विवशता सामने खड़ी हो जाये तो अंतत: 'समाज सापेक्षता' को अपनाना ही श्रेयस्कर होता है। मुश्किल यह कि विकास की वर्तमान अवधारणा के जनकों के मन में

विकास की 'समाज सापेक्षता' की नैसर्गिक आकांक्षा की वरेण्यता के विरुद्ध 'व्यक्ति सापेक्षता' की वरेण्यता की पूर्वाग्राही आकांक्षा बनी हुई है। वरेण्यता का यह पार्थक्य विमर्श को उलझाव में डाल देता है। दुहराव के जोखिम पर भी कहना जरूरी है कि नैतिकता सामाजिक-सांस्कृतिक प्रपत्ति है, जाहिर है कि नैतिकता का संबंध समाज विकास की 'समाज सापेक्षता' में ही वैध ठहरता है। इसलिए, विकास के नैतिक आयातन में 'समाज सापेक्षता' को विस्थापित कर 'व्यक्ति सापेक्षता' को समाविष्ट करना दवा की शीशी में जहर भरने जैसा है। यहाँ यह ध्यान में रखना जरूरी होगा कि नैतिकता सामाजिक प्रपत्ति है लेकिन नैतिकता की कसौटी पर तो व्यक्ति होता है। इसलिए, विकास के नैतिक आयातन में 'समाज सापेक्षता' के अंदर 'व्यक्ति सापेक्षता' का संस्थापन भी जरूरी है। प्रोफेसर अमर्त्य सेन कहते हैं, 'किसी सामाजिक व्यवस्था में एक व्यक्ति की स्थिति को दो प्रकार से परखा जा सकता है: (1) उसकी वास्तविक उपलब्धि की दृष्टि से, और (2) उसकी उपलब्धि की सवतंत्रता की दृष्टि से। उपलब्धि का संबंध इससे है कि हम क्या-क्या कर पाते हैं, और स्वतंत्रता का संबंध जिसे हम महत्त्वपूर्ण समझते हैं उसे कर पाने के वास्तविक अवसर से है। जरूरी नहीं कि दोनों समान हों। विषमता पर विचार उपलब्धियों और स्वतंत्रताओं की दृष्टि से किया जा सकता है और दोनों का सहधर्मी होना आवश्यक नहीं है। यह अंतर दक्षता को परखने के लिए भी महत्त्वपूर्ण है जिसे वैयक्तिक उपलब्धियों या उपलब्धि की सवतंत्रताओं के आधार पर परखा जा सकता है। इस तरह उपलब्धि और स्वतंत्रता का अंतर सामाजिक मूल्यांकन के लिए केंद्रीय महत्त्व का है।'[15] उपलब्धियों और स्वतंत्रता की मात्राओं से चयन के अवसर और चयन की क्षमताओं, जिसमें इच्छा-शक्ति भी शामिल है, का सीधा संबंध होता है। विषमतामूलक समाज में व्यक्तियों को जन्म जैसे अतार्किक आधार पर उपलब्धियों और स्वतंत्रताओं की मात्रा में उल्लेखनीय अंतर होता है। इसलिए विषमतामूलक समाज नैतिक-संकट से घिरा हुआ होता है। जाहिर है कि उपलब्धियों और स्वतंत्रताओं के बढ़ते अंतर से नवनैतिकता का गहरा संबंध है। स्वाभवत: नवनैतिकता का उपलब्धियों और स्वतंत्रताओं के बढ़ते अंतर से टकराव  अनिवार्य हो जाता है। यह टकराव अपने नैरंतर्य और फैलाव में; व्यापकता और गहराई में  जाकर सभ्यता संघात में तब्दील होने की स्थिति तक पहुँच सकता है। (देखें 1.13)

1.7 'बसकि दुश्वार है, हर काम का आसाँ होना/ आदमी को भी मुय्यसर नहीं इन्साँ होना'[16]। 'आकांक्षा' कहने से ही कुछ बातें साफ होती हैं। मनुष्य अपने जन्म से न तो स्वतंत्र और न ही समान  होता है। 'आदमी' को 'इन्साँ' बनने के संधर्ष से गुजरना पड़ता है। प्राकृतिक या सांस्कृतिक रूपों में मनुष्य अपने प्रदत्त और उपलब्ध जीवन-स्थितियों में

सचमुच 'स्वतंत्र' और 'समान' होता तो उसे इनकी 'आकांक्षा' ही क्यों होती ? हासिल की 'आकांक्षा' का कोई मतलब नहीं होता है। इसलिए, 'मनुष्य जन्म से समान होता है' या 'मनुष्य जन्म से स्वतंत्र होता है' जैसे सद्भावनामूलक सूक्तियों की पड़ताल कठोरतापूर्वक की जानी चाहिए। मनुष्य की इन जन्मजात आकांक्षाओं के पूरे होने में बाधक तत्त्वों की पड़ताल भी उतनी ही कठोरता से किये जाने की जरूरत है। संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों के कारण भी मनुष्य के जीवन में विविधता का समावेश होता है। संसार के जिन प्राणियों में संस्कृति का विकास नहीं हुआ है, वहाँ भी विविधता पाई जाती है। असल में, प्रकृति वैविध्यपूर्ण है। प्रकृति और संस्कृति में अंतर्निहित विविधताओं की स्वाभाविकता को अक्सर विषमताओं की स्वाभाविकता के तर्क के रूप में पेश किया जाता है। विचार का विषय यह है कि क्या 'विविधता' अंतत: 'विषमता' का अनिवार्य पर्याय है? क्या 'विविधताओं' की ही अंतिम परिणति 'विषमताएँ' है? ध्यान में रखने की जरूरत है कि 'विविधताओं' का संबंध प्रकृति से है जबकि 'विषमताएँ' विकास की सामाजिक अवहेला से पैदा होती है। प्रकृति में विविधता को बचाना जितनी बड़ी नैतिक जरूरत है, उतनी ही बड़ी नैतिक जरूरत विकास को विषमता से बचाने की है। प्रकृति की विविधता को खत्म करने और समाज में विषमता को पैदा करनेवाली शक्ति का प्राणशिरा एक ही है। इस प्राणशिरा को पहचानकर इससे संघर्ष करना आज की नैतिक जरूरत है। 'क्योटो प्रोटोकॉल संधि' की आवश्यकताओं और विषमता पैदा करनेवाले विकास के कारण होनेवाले पर्यावरण क्षरणों के संबंधों के 'नैतिक दृष्टिकोण' के आलोक में इसे असानी से समझा जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र के अवर महासचिव श्री नीतिन देसाई ने श्री एल पणिक्कर के साथ बात करते हुए कहा कि प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग गरीबी उन्मूलन में किया जाना चाहिए। 2015 तक गरीबी को घटाकर आधा करने की संयुक्त राष्ट्र की योजना को पूरा करने के लिए जरूरी है कि आर्थिक भूमंडलीकरण की जगह पर्यावरणीय भूमंडलीकरण की नई दृष्टि अपनानी होगी।[17] अजित झा चिरंतन आजीविका पर आधारित 'पर्यावरणीय भूमंडलीकरण'[18] में अर्थशास्त्री डेविड सी. कोस्टेन को उद्धृत करते हुए लिखते हैं,'रोजगार के साथ पैसा जुड़ा होता है, आजीविका के साथ पैसा जुड़ा हुआ हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है; सामान्यत: रोजगार किसी दूसरे के पयर्वेक्षण के अधीन होता है, आजीविका स्वयं-संचालित।'[19] 'आर्थिक भूमंडलीकरण' की जगह 'पर्यावरणीय ओर मानवीय भूमंडलीकरण' की नई दृष्टि नवनैतिकता की जायज माँग है। लेकिन, 'आर्थिक भूमंडलीकरण' के झंडाबरदार इस माँग के मर्म को आसानी से कभी नहीं समझ पायेंगे। (देखें 1.12) इसके लिए संघर्ष करना होगा और उस संघर्ष को वैधता

नवनैतिकता से ही प्राप्त होगी। प्रोफेसर अमर्त्य सेन ने इस पर विचार किया है कि 'अगर सामाजिक व्यवस्था के नीतिशस्त्र के इतने सारे भिन्न सिद्धांतों में यह साझी विशेषता है कि वे सभी किसी वस्तु –किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु– की समानता की माँग करते हैं तो ऐसा क्यों है, यह सवाल करना उपयोगी हो सकता है। मेरे विश्वास के अनुसार यह तर्क किया जा सकता है कि उस तरह की विश्वसनीयता पाने के लिए सामाजिक प्रश्नों संबंधी नीतिशास्त्रीय तर्कों में किसी ऐसे स्तर पर सभी के लिए समान प्रारंभिक व्यवहार की माँग शामिल होनी चाहिए जिसे महत्त्वपूर्ण समझा जाता हो। ऐसी समानता के अभाव में कोई भी सिद्धांत मनमाने ढंग से भेदभाव करनेवाला हो सकता है जिसका पक्ष लेना कठिन होगा। हो सकता है कि अनेक चरों के आधार पर कोई सिद्धांत विषमता को न सिर्फ स्वीकारे, बल्कि उसकी माँग करे। मगर उन विषमताओं का समर्थन करते हुए किसी-न-किसी तरह, पर्याप्त ठोस ढंग से अंतत: सभी के लिए समान व्यवहार से उन विषमताओं को जोड़ने की आवश्यकता से आँखें चुराना मुश्किल होगा। संभवत: इस विशेषता का संबंध इस जरूरत से है कि खासकर सामाजिक व्यवस्थाओं के बारे में नीतिशास्त्रीय तर्क दूसरों –और संभावित रूप से दूसरे सभी– के दृष्टिकोण से विश्वसनीय होने चाहिए। 'यह व्यवस्था क्यों?', इस प्रश्न का उत्तर गोया कि व्यवस्था के सभी भागीदारों के हित में देना होगा।... हाल में टामस स्कैलन (1982) ने इस अपेक्षा की प्रासंगकिता और शक्ति का विश्लेषण किया है कि व्यक्ति को 'अपने कर्मों का औचित्य दूसरों के सामने ऐसे आधारों पर सिद्ध करने योग्य होना चाहिए कि उसे बुद्धिसंगत आधारों पर रद्द न किया जा सके'।'[20]

1.8 अक्सर 'स्वतंत्रता' को भी 'समानता' की विरोधी और 'विषमता' का कारण ठहराने की कोशिश की जाती है। 'स्वतंत्रता' को बचाने के लिए 'समानता' के मुद्दे पर समझौता करना पड़ता है और 'समानता' को सुनिश्चित करने के लिए 'स्वतंत्रता' को संयमित एवं नियंत्रित करना पड़ता है। अक्सर समझौते की शर्त्त को कठिन और 'संयम' एवं 'नियंत्रण' को अप्रभावी बना दिया जाना स्वीकार कर लिया जाता है। 'स्वतंत्रता' के प्रति मनुष्य के मन में बसे आग्रह को देखते हुए उसे 'समानता' से भिड़ाने की भी कोशिश की जाती है। आज उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण का त्रैत जीवन को बहुविध प्रभावित कर रहा है। इस त्रैत की परियोजनाओं के अंतर्गत 'स्वतंत्रता' के संयम और नियंत्रण को शिथिल बनाया जा रहा है। परिणाम यह कि मनुष्य के जीवन में 'समानताएँ' तेजी से कम हो रही है और 'विषमताएँ' उससे भी अधिक तेजी से बढ़ रही है। 'समनाताओं'[21] की स्वाभाविक आकांक्षाओं को 'समरूपताओं'[22] का शिकार बनाया जा रहा है। कहना न होगा कि 'समनाताओं' का मुख्य

सरोकार मनुष्य की सारगत क्षमताओं और वास्तविकताओं से और ‘समरूपताओं’ का मुख्य सरोकार बाहरी अभिव्यक्तियों और प्रतीतियों से होता है। ‘स्वतंत्रता’ और ‘समानता’ के प्राकृतिक और सांस्कृतिक पक्षों की ‘विविधताओं’ के पारस्परिक संबंधों की भी पड़ताल की जानी चाहिए। नैतिकता का गहरा संबंध मनुष्य की प्रकृति से भी है और संस्कृति से भी है। कहना चाहिए कि मनुष्य की ‘प्रकृति’ और ‘संस्कृति’ के अंतर्द्वंद्वों के बीच सामंजस्य की तलाशों में ही नैतिकता की विनिर्मिति संभव हुई है। जाहिर है, प्राकृतिक और सांस्कृतिक धरातलों पर ‘स्वतंत्रता’, ‘समानता’ और ‘नैतिकता’ परस्पर अंतर्ग्रंथित[23] और अंतर्बंधित[24] है। इसलिए, नैतिकता के प्राकृतिक और सांस्कृतिक पक्षों के संदर्भों का ‘स्वतंत्रताओं’ और ‘समानताओं’ की जीवन-स्थितियों के पड़ताल से प्रगाढ़ संबंध है। इस जटिल पड़ताल में नैतिकता एक महत्त्वपूर्ण आधार और औजार है। कहना न होगा कि इस नैतिक आकांक्षा ने ही मनुष्य के बनने की राह तैयार की है।

1.9 मनुष्य की मौलिक आकांक्षा होने के कारण ‘स्वतंत्रता’ और ‘समानता’ मनुष्य की सांस्कृतिक निर्मिति का मूलाधार हैं। संस्कृति को समझने में ये प्रवृत्तियाँ बहुत ही सहायक होती हैं। इस समय, ‘स्वतंत्रता’ और ‘समानता’ को परस्पर विरोधी साबित करने की कोशिश बहुत सतर्क होकर की जा रही है। असल बात यह है कि मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के विपरीत होने के बाद भी एक दूसरे की विरोधी नहीं होती। (देखें 1.2) स्वतंत्रता और समानता एक दूसरे के पूरक और एक दूसरे पर निर्भशील होते हैं। एक न्यायपूर्ण समाज में समानता स्वत: अंतर्निहित हुआ करती है। दूसरी ओर समानता सुनिश्चित करनेवाला समाज अपनेआप में एक न्यायपूर्ण समाज भी होता है। नैतिकता के किसी भी विमर्श के लिए ‘स्वतंत्रता’ और ‘समता’ की अविभाज्यता, अनुपूरकता, अंतर्निर्भशीलता सर्वस्वीकृत पक्ष[25] है। अब तक के मानव विकास से यह बात मोटे तौर पर साफ है कि मनुष्य ने चाहे जितनी प्रगति कर ली हो, लेकिन अपनी इन आकांक्षाओं को पूरा करने में पूरी तरह वह सक्षम नहीं हो पाया है। ऐसा नहीं हो पाने के कारणों को विस्तार से समझने की जरूरत है। आज के समाज में विकास जितनी तेजी से हो रहा है, प्रगति उतनी तेजी से नहीं हो रही है। विषमता की खाई बढ़ रही है और अपने सही अर्थ के संदर्भ में समाज में उसी अनुपात में अन्याय भी बढ़ रहा है। अधिकतर मामलों में यह बढ़ती हुई विषमता और अन्याय समाज में अदृश्य और धुँधली बनी रहती है। जिस कोण से इन विषमताओं और अन्याय को बढ़ावा मिल रहा है, उसी कोण से इसे अदृश्य और धुँधला बनाये जाने का भी पुरजोर प्रयास होता है। बढ़ती हुई इन विषमताओं और अन्याय को अधिक दृश्य बनाया जाना आज की बौद्धिकता और सामाजिकता की साहसिक चुनौती है।

एक विषम और अन्यायपूर्ण समाज में आदमी जिस एक भरोसे पर अपने को टिकाये रखता है, उस भरेसे का नाम नैतिकता है। नैतिकता विषमताओं और अन्यायों के बीच संतुलन की तलाश निरंतर जारी रखने की कोशिश करती है। नैतिकता के आधार पर करते हुए ही आदमी उस न्यूनतम न्याय और समानता के हासिल होते रहने पर भरेसा कर पाता है जिसके बिना जीवन संभव ही नहीं हो सकता है।

1.10 न्याय और समानताओं की नैसर्गिक आकांक्षाओं की जटिलताएँ जवीन में बहुतेरे ढंग से रौशन होती हैं। किसी भी समय और समाज को समझने के लिए उस समाज की नैतिक स्थितियों को भी समझ लेना प्राथमिक दायित्व होता है। नैतिकता के प्राणतंतु देशकाल, समुदाय, समाज, राष्ट्र और विश्व-मानवता से जुड़े होते हैं। मानवीय सभ्यता अपनी समग्रता में सदैव गतिशील रहती है। उसकी इस चिर-गत्यात्मकता में संक्रमणकालीन प्रवृत्तियाँ भी सूक्ष्म एवं स्थूल रूप में सक्रिय रहती हैं। गति की भी अपनी एक स्थिति होती है और स्थिति में भी एक गति होती है। जो समुद्र ऊपर से एकदम शांत प्रतीत होता है उसके विभिन्न स्तरों पर धाराओं के विभिन्न प्रवाह गतिमान रहते हैं। यह अलग बात है कि सीधे-सीधे और प्रत्यक्ष ढंग से सुनामी लहरें कभी-कभी दृश्यमान होकर जीवन को प्रभावित करती हैं। संस्कृति के समुद्र में भी ऐसी लहरें निरंतर उठती रहती हैं। नैकिता का गहरा संबंध संस्कृति से होता है। देशकाल, समुदाय, समाज, राष्ट्र और विश्व-मानवता के परिप्रेक्ष्य में मानवता को उनकी सामान्य और विशिष्ट संस्कृतिक सापेक्षता की पृष्ठभूमि में ही समझना होता है। यह ठीक है कि कभी-कभी किसी समाज में ऊपर से सबकुछ स्थिर प्रतीत होता है लेकिन यह ध्यान में रखने की जरूरत है कि यह स्थैर्य की गति है। सभी समुदायों और समाजों में नैतिकता, आचारसंहिता के अपने पारंपरिक मानदंड होते हैं। ये मानदंड अपेक्षाकृत अनम्य होते हैं। आचार भले बदल जाये संहिता नहीं बदलती है, नीति के बदल जाने पर भी नैतिकता नहीं बदल पाती है। भारतीय समाजों में भी यह अनम्यता है। नवनैतिकता की जरूरतों के तहत इन मानदंडों को नमनीय बनाने के लिए, 'भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की

तलाश करें।'[26] 'भारतीयता की खोज आज के संदर्भ' में आज कुछ सावधानी बरतना भी बहुत जरूरी है। क्योंकि, 'यह बात माननी ही होगी कि ऐतिहासकि रूप से एक सामान्य भारतीय संस्कृति का अस्त्वि कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है।.... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।'[27] यह भी याद रखने की जरूरत है कि 'आधुनिक भारतीय राष्ट्र' को गर्भ में ही 'संप्रदायवाद' का भयानक रोग लग गया। 'आंतरिक उपनिवेश' का रोग तो उससे भी पुराना है। भारतीयता की किसी भी खोज में 'आधुनिक भारतीय राष्ट्र' के इन भयानक रोगों के निदान की खोज को भी पूरी तत्परता के साथ शामिल किया जाना जरूरी है। इहीं रोगों के कारण भारतीयता 'बाह्य विभाजन', अर्थात देश के राजनीतिक विभाजन और 'आंतरिक विभाजन', अर्थात देश के सामाजिक विभाजन का शिकार बन गयी। गाँधीजी की मान्यता थी कि 'अस्पृश्यता जैसे ही खत्म होगी, स्वयं जाति प्रथा भी शुद्ध हो जायेगी, अर्थात मेरे स्वप्नों के अनुसार शुद्ध हो जायेगी। यह सच्ची वर्णाश्रम व्यवस्था बन जायेगी, जिसके अंतर्गत समाज चार भागों में विभाजित होगा और प्रत्येक भाग एक दूसरे का पूरक होगा, कोई छोटा या बड़ा नहीं होगा। हिंदू धर्म के समग्र अंग के लिए प्रत्येक भाग समान रूप से आवश्यक होगा या एक भाग उतना ही आवश्यक होगा जितना दूसरा।'[28] लेकिन अश्पृश्यता खत्म कैसे होगी? और खत्म हो भी जाये तो भी 'समाज चार भागों में विभाजित होगा' ऐसा तो वे स्वीकार ही करते हैं। कहना न होगा कि तर्क-वितर्क चाहे जो हो, हकीकत यही है कि 'आधुनिक भारतीय राष्ट्र' ने चौतरफा संघर्ष के बदले 'विभाजन' को अपनी नियति के रूप में स्वीकार लिया था। जहाँ तक नवनैतिकता के संदर्भ में 'भारतीयता की खोज' को विभाजन की इन दरारों को पाटना ही होगा। इन दरारों को पाटे बिना 'भारतीयता की खोज' की किसी भी कोशिश को औंधे मुँह गिरने से बचाना असंभव होगा।

1.11 'कथनी' और 'करनी' में एक हद तक अंतराल होना स्वाभाविक है। 'कथनी' व्यक्ति की आकांक्षा और सहमति को सामने लाती है और 'करनी' उपस्थित परिस्थिति में भी उपलब्ध विकल्पों के चयन ओर उसे बरते जाने की क्षमता और साहस को सामने लाती है। नैतिक संकट को समझने के लिए, 'कथनी' और 'करनी' के अंतराल को 'आकांक्षा' और 'क्षमता' के अंतराल के रूप में समझे जाने की जरूरत है। इस अंतराल को कम करने का संघर्ष सभ्यता

का संघर्ष है। चिंता की बात यह है कि यह संघर्ष कमजोर पड़ता दिख रहा है। 'कथनी' और 'करनी' के अंतराल से उत्पन्न नैतिक तनाव को बहुत देर तक झेल पाना आदमी के लिए मुश्किल होता है। 'कथनी' और 'करनी' अंतराल को पाटने का एक खतरनाक तरीका यह देखा जा रहा है कि अब 'करनी' की ही 'कथनी' हो रही है। मनुष्य के स्वभाव में एक आत्म-विरोधी प्रवृत्ति सक्रिय रहती है। इस आत्मविरोधिता का गहन संबंध उसके 'सार्वजनिक और अंतरंग'[29] चरित्र और स्थिति से है। 'सार्वजनिक' तौर पर व्यक्ति जिन मूल्यों की दुहाई देते नहीं थकता है अपने अंत:करण में उन मूल्यों के प्रति बहुत सम्मानशील नहीं रह पाता है। पारंपरिक ढंग से इस संदर्भ को 'कथनी' और 'करनी' के अंतर से समझने की कोशिश की जाती रही है। कहा जा सकता है कि नैतिकता की समस्या नैतिक-मानदंडों को अपनाने में व्यक्ति की द्विधाग्रस्त मन:स्थिति और बहुधा खंडित जीवनस्थितियों एवं क्षमताओं से उपजती है। 'सर्वोत्तम' की बात और 'अधम' का आचरण करता है अर्थात, उँचे विचारों और सिद्धांतों की आकांक्षा एवं व्याख्या करते हुए भी आचरण के चयन के समय अक्सर 'अधम' को अपना लेता है। सार्वजनिक और अंतरंग जैसे मोटे विभाजनों की अंतवर्त्तिता में व्यक्तित्व को विभाजित करनेवाली और भी कई महीन रेखाएँ होती हैं। विश्व, राष्ट्र, जनपद, धर्म, काम के स्थान, बाजार, समाज, समुदाय, परिवार, सहमर्मी, प्रेमप्रसंगों आदि जैसे असंख्य बिंदु मिलकर व्यक्तित्व के कई-कई बहिरंगों और अंतरंगों की रचना करते हैं। 'हम' और 'अन्य' के जितने वृत्त होते हैं, बहिरंग और अंतरंग के उतने ही क्षेत्र होते हैं; व्यक्तित्व के उतने ही केंद्र और उतनी ही परस्पर अतिक्रामी[30] परिधियाँ होती हैं। सार्वजनिक और अंतरंग चरित्र में जितना आत्मविरोध होता है, 'कथनी' और 'करनी' में भी उतना ही अंतराल होता है, उतने ही नैतिक मानदंडों को बरता जाता है। मानदंडों की बहुलता से नैतिक समस्या उत्पन्न होती है। बचपन से ही आदमी अपने परिवार (देखें 1.14) में नैतिक मानदंडों की बहुलता को बरते जाते हुए देखता है, पहले थोड़ा-बहुत व्यथित होता है फिर जल्दी ही दुहरे बरताव की 'विवशताओं' को समझने और उबरने लगता है। इस समझ से मानसिक अनुकूलन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। अंतत: आदमी दुहरे मानदंडों को बरतने में धीरे-धीरे कुशल हो जाता है। कहना न होगा कि नैतिकता के संदर्भ में किये जानेवाले विचार का एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ परिवार के साथ जुड़ता है। परिवार की बनावट और उसके संबंधों को परखना जरूरी है। लोगों के ऊपर 'कथनी' और 'करनी' के अंतराल का बोझ डालकर निश्चिंत हो जाना ठीक नहीं है, व्यक्तियों की सामाजिक विवशताओं को समझना भी जरूरी है। 'कथनी' और

'करनी' के अंतराल को 'उपलब्धियों' और 'स्वतंत्रताओं' के अंतराल से जोड़कर भी देखना जरूरी है। (देखें1.6)

1.12 न्याय का गहरा संबंध 'वितरण' से होता है। वितरण का असंतुलन सामाजिक असंतुलन को जन्म देता है। 'पैरेटो-कुशलता'[31], जो किसी को हानि पहुँचाये बिना किसी को लाभ पहुँचाना संभव नहीं मानती है, की गहन तार्किकता से निकलना तभी संभव है जब वितरण को सामाजिक संदर्भ से जोड़कर कर विचार किया जाये। ऐसा नहीं करने से तर्क में 'प्रवर्गीय दोष'[32] आ जाता है। क्योंकि, इस संदर्भ में यह स्पष्ट है कि अक्सर इस प्रणाली में सामाजिकता को हानि पहुँचाकर व्यक्ति को लाभ पहुँचाये जाने का अवसर बनता है। इसलिए, 'उपलब्धियों' और 'स्वतंत्रताओं' के 'वितरण' के मामले को व्यक्ति के लाभ-हानि के मुहावरे से अलग हटकर सामाजिक संतुलन के लाभ के नजरिये से देखे जाने की जरूरत है। वितरण का असंतुलन सिर्फ व्यक्तियों के संदर्भ में ही नहीं उठता है। परिवारों, समुदायों, समाजों, राष्ट्रों के संदर्भ में भी उठ सकता है। इसलिए, स्वभावत: 'पैरेटो-कुशलता' से बाहर निकलने के लिए 'वितरण' को न सिर्फ व्यक्तियों की निरपेक्षता में बल्कि परिवारों, समुदायों, समाजों, राष्ट्रों की निरपेक्षता के संदर्भ में भी देखना जरूरी है। यहाँ हमारा ध्यान सहज ही 'साझी मानवता' की ओर जाता है। और तब एक गंभीर सवाल से हमें जूझना पड़ता है कि क्या 'उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' के त्रैत की वर्त्तमान परियोजनाओं में इस प्रकार की साझी मानवता की कोई गुंजाइश बनती है? (देखें 1.7) दुखद सच्चाई यह है कि इस सवाल का हमारे पास इस समय नकारात्मक जवाब ही उपलब्ध है। 'वितरण की न्यायशीलता' का गहरा संबंध व्यक्तियों, परिवारों, समुदायों, समाजों, राष्ट्रों की 'ग्रहण की क्षमता' से भी होता है। 'वितरण की न्यायशीलता' के लिए 'ग्रहण की क्षमता' में संभाव्य समता का अर्जन एक नैतिक सवाल से आगे बढ़कर एक राजनीतिक सवाल बन जाता है। 'उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' के त्रैत के अतिचार से बचाव के लिए व्यक्तियों, परिवारों, समुदायों, समाजों, राष्ट्रों की निरपेक्षता में साझी मानवता के नैतिक नवाचार के विकास की जरूरत है। नवनैतिकता के मानदंड और अयाम को साझी मानवता के नैतिक नवाचार की बहुविध जटिलताओं के संदर्भ में समझना जरूरी है।

1.13 'यूँ ही हमेशा उलझती रही है ज़ुल्म से ख़ल्क/ न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई/ यूँ ही हमेशा खिलाये हैं हमने आग में फूल/ न उनकी हार नई है न अपनी जीत नई'[33]। इसलिए, यह विश्वास सहज ही किया जा सकता है कि मनुष्य संकट की इस घड़ी को भी

झेल ले जायेगा। सफलता की इस गाथा में जो बात सूक्ष्म रूप में कहीं अंदर बनी हुई है, उस पर हमारा ध्यान सहज ही नहीं जाता है। बात यह कि हर दौर की सफलता के पीछे त्याग और बलिदान की करुण कहानी भी हुआ करती है। इधर, 'विकास के साथ मनुष्य का मन बदलने लगा है। इस बदलाव के कारण, त्याग और बलिदान के बदले जीवन में लोभ और भोग का व्यक्तिवादी वर्चस्व बढ़ने लगा है। व्यक्तिवाद का दबाव जितना बढ़ता गया व्यक्तित्व का प्रसार उतना ही संकुचित होने लगा है। सामाजिक दृष्टि से यह शुभ लक्षण नहीं माना जा सकता है। आधुनिक विकास की संरचना का स्वरूप पिरामिड की तरह बना। इस विकास में 'एक के साथ एक' नहीं 'एक के ऊपर एक' के विकास का ही ढाँचा बनता है। पढ़े-लिखे लोगों में एक विचित्र किस्म की आपाधापी शुरू हो गई है। 'सबके साथ' नहीं 'सबके आगे' निकल जाने की होड़ लगी हुई है! इस होड़ में पढ़े-लिखे लोग तो सबसे आगे हैं! जो जितना पढ़ा-लिखा है, वह इस आपाधापी को बढ़ाने में उतना ही आगे है।'[34] फ़ैज ने अपने समय के संघर्ष की 'रस्म' और 'रीत' के साथ 'हार' और 'जीत' को ठीक पहचाना था। इधर, 'रस्म' और 'रीत' बदल गई है। आग में कागजी फूल नहीं खिलाये जा सकते हैं! फ़ैज के ही शब्दों को याद करें; 'अब कहाँ रस्म घर लुटाने की'[35]। 'घर बसाने' की संभावनाओं के संघर्ष में 'घर लुटाने' की भावना थी; 20वीं सदी की 'रस्म' और 'रीत' हो या 'हार' और 'जीत' 21वीं सदी में इनका ठीक वही अर्थ नहीं रह गया है। 'त्याग' और 'बलिदान' की भावनाओं को निरर्थक या व्यर्थ बना दिया जाये तो मनुष्य की इस जययत्रा पर विराम लग सकता है–-ऐसा माननेवाले लोगों की कोई कमी नहीं है। कुछ लोग इस परियोजना पर काम भी कर रहे हैं। 'त्याग' और 'बलिदान' की भावना को मारना इतना आसान नहीं है, क्योंकि 'त्याग' और 'बलिदान' की भावनाओं के गर्भ में मनुष्य के सुखद भविष्य की सहज आकांक्षा स्वप्निल बीज बने रहते हैं। इन सपनों का पीछा करते हुए ही मानवता ने अपनी सभ्यता यात्रा जारी रखी है। यह सच है कि 'आज अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों ने मानवीय रिश्तों को बिगाड़ने की प्रक्रिया में वह स्थिति पैदा कर दी है कि अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करनेवाले जन मानवीय अधिकार की अपनी हर लड़ाई को एक पराजय बनता हुआ पा रहे हैं। संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्त्ति करती दिखायी दे रही हैं जिनके विरुद्ध संघर्ष है क्योंकि संघर्ष का आधार नये मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया है। न्याय और बराबरी के लिए हम जिस समाज की कल्पना करते हैं उसमें मानवीय रिश्तों की शक्ल क्या होगी यह उस समाज के लिए संघर्ष के दौरान ही तय होना चाहिए।'[36] मानवीय रिश्तों की नई शक्ल के लिए सामाजिक संघर्ष की जरूरत बदलाव के हर दौर की जरूरत होती है। मानवीय रिश्तों की नई शक्ल में नवनैतिकता अभिव्यक्त होती है। पुरानी नैतिकता

का प्राण-तत्त्व 'सिर झुकाने' की विनयशीलता में है, नवनैतिकता का प्राण-तत्त्व 'सिर उठाने' की साहसिकता में है। 'नयन' बदल जाये तो 'नैतिकता' भी आसानी से बदल जाती है। आदमी शरणागति को ही प्रगति समझे इसके लिए धर्म आदमी की आँख ही बदल देता है।[37] कहना न होगा कि साम्राज्यवादी विस्तार की आकांक्षा से सन्नद्ध सत्ता और शोषण के सबसे बड़े औजार 'उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण' के त्रैत में धर्म-तत्त्वों का इस्तेमाल पहले से अधिक घातक ढंग से हो रहा है। इस घातक ढंग का 'बौद्धिक-विमर्श' उत्तर-आधुनिकता का अमेरीकी संस्करण तैयार करता है। 'उत्तर-आधुनिकता की प्रवृत्तियों पर ध्यान देने से इसकी कुछ मान्यताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। मुख्य शक्ति स्रोत के रूप में विज्ञान, तकनीक और बाजार की स्वीकृति। मुख्य भाव ईश्वर संबंधी रहस्य उसके भय से मुक्ति के लिए ईश्वर के अस्तित्व या तत्संबंधी विश्वास के सामाजिक निषेध पर जोर नहीं, बल्कि जो लोग ईश्वर और धर्म से उद्‌भूत मान्यताओं में आस्था रखते हैं उनकी आस्था को और मजबूत करते हुए अपने मनोरंजन और उनके शोषण की अनुकूलता की रचना करना। यहाँ धर्म और बाजार के नवसंश्रय को समझा जा सकता है। नायकत्व से इनकार लेकिन साथ ही बाजार की सुविधा और जरूरत के अनुसार छलनायकों का सृजन और विसर्जन करते हुए मनुष्य के अंदर निहित वीरपूजा के संस्कार को इस्तेमाल के लायक बनाये रखना। समाजवादी राष्ट्रीय-जनतंत्र के बदले मुख्य प्रवृत्ति के रूप में समाज विमुख व्यक्तिवादी बहुराष्ट्रीय पूँजीवादी-धनतंत्र की ओर आकृष्ट करने के लिए मनुष्य को निर्बाध भोग की असीम संभावनाओं की कल्पित मरीचिकाओं में फाँसे रखना।'[38] जाहिर है, धर्म की घातकता के बढ़ने का कारण साम्राज्यवादी विस्तार की बाजारवादी आकांक्षा में वैज्ञानिक उपकरणों के सहारे धर्म के मूलार्थ का सुनियोजित अभिनिवेश है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सैमुएल हंट्टिंगटन विश्वव्यवस्था के समरस मानवीय सभ्यता की ओर बढ़ने के बदले विखंडित सभ्यता सचेतनता के कारण सभ्यताओं के नियामक ओर विधायक तत्त्वों के रूप में धर्मीय और नस्लीय संदर्भों की नृतात्त्विाकता को महत्त्व देते हुए सभ्यता के विश्वव्यापी संघात[39] की अनिवार्यता की 'आशंका' करते हैं, तो हमारी चिंता और बढ़ जाती है। संतोष की बात यह है कि यह 'आशंका' के गलत साबित होने के सारे आसार हैं! क्योंकि, आदमी फिर से नई आँख पाने के संघर्ष में जुट जाता है। यह संघर्ष धर्म की परिधि में बने रहकर भी होता है। जैसा कि 'भक्तिकाल' में हुआ, जैसा कि 'नवजागरण' में हुआ। नवजागरण का उदय मूलत: धर्म के जड़ और वंचक इस्तेमाल से बने दमघोंटू सामाजिक वातावरण में प्राण-वायु के रूप में हुआ। लेकिन संघात की आशंका तो बनी हुई है। यह अलग बात है कि यह संघात रोजगार, समता, स्वतंत्रता और न्याय के सवाल हल नहीं होने के कारण संपन्नों और विपन्नों के बीच होगा।

मुश्किल यह है कि विशाल भूखंड अब विशाल नहीं रहा। प्रकाशपुंज पर 'ताकतवर लोगों' का कब्जा होता चला गया है। इस गहन अंधकार में वृहत्तर मानव समाज के लिए न कोई शशधर है, न कोई तारा है।[40] सच है, पृथ्वी पर अंधकार का हमला पहली बार नहीं हुआ है। फिर भी इस बार का अंधकार पहले से अधिक खतरनाक है। क्योंकि,पृथ्वी के अंधकार में, पहला पुरुष अकेला नहीं था, न पहली स्त्री। सूर्योदय का रंग, अंधकार में, दोनों के साथ होने से बन रहा था। और आज? साथी को नहीं जानते अधिक-से-अधिक साथ चलने को जानते हैं।[41] सभ्यता को संघात से बचाने के लिए सामाजिक समूहों को बचाना होगा। बिडंबना यह कि सभ्य आदमी समूह में मिलकर नहीं गाते, समूह में मिलकर नहीं नाचते, समूह में मिलकर समय नहीं गँवाते, सभ्य आदमी अकेले रहना पसंद करते हैं,सभ्य आदमी समूहों में नहीं पाये जाते हैं?[42] जब तक सभ्यता और संस्कृति नये सूरज की आमद से समृद्ध नहीं हो जाती तब तक इस घनघोर अंधेरे से बचने के लिए लालटेन जलाना बहुत जरूरी है। मुश्किल यह है कि लालटेन जलाना उतना आसान बिल्कुल नहीं है, जितना उसे समझ लिया गया है।[43] इस संघात के बीच से उभरनेवाली नवनैतिकता के लिए जरूरी होगा 'क्रांति, समता, प्रगति, जनवाद' जैसे शब्दों से काम लिये जाने की संभावनाओं को बचाये रखना! (देखें 1.6)

1.14 अंत के पहले वह प्रसंग जो नैतिकता पर होनेवाली किसी बात की शुरुआत में ही अक्सर उपस्थित होती है – 'स्त्री-पुरुष' के संबंध खासकर 'यौन साहचर्य' की नैतिकता! इस संदर्भ में डॉ. राममनोहर लोहिया की बहुचर्चित उक्ति है। नैतिकता को पूरी तरह 'यौन साहचर्य' पर केंद्रित कर देना नैतिकता के सवाल को उसकी केंद्रीयता से भटकाना है। अन्य संदर्भों में जिस तरह 'संबंध' का सवाल महत्त्वपूर्ण है, उसी तरह 'यौन साहचर्य' का सवाल भी महत्त्वपूर्ण है। 'यौन साहचर्य' में उच्छृँखलता से बहुत सारी नैतिक समस्याओं का सूत्रपात होता है। फिर भी नैतिकता के सवाल को 'यौन साहचर्य' पर केंद्रित कर दिये जाने के अपने खतरे हैं। 'यह सही है कि नैतिकता का मूलाधार सिर्फ यौन संदर्भों से ही न तो तय होता है और न सीमित ही होता है। फिर भी, यह तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि समाज की नैतिक-संरचना का क्षेत्र चाहे जितना विस्तृत हो उसकी नाभिकीयता में यौन-संदर्भों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। परिवार, सामाजिक पहचान और संपत्तियों के उत्तराधिकार के मामलों में किसी भी समाज में यौन संबंधों और संदर्भों का अपना महत्त्व होता है। फिर आज के युग में

जब तमाम तरह की विषमताओं, खासकर लैंगिक विषमताओं, जो निश्चित रूप से एक तरह की सामाजिक त्रुटि है, के हवाले से 'फ्री सेक्स' और 'सेक्स वर्कर' की सामाजिक स्वीकृति की माँग को वैध बनाने की आवाज धीरे-धीरे मजबूत हो रही है, ... 'स्वतंत्र' और 'आत्मनिर्भर' होने की सापेक्षिक आकांक्षा हर हाल में मनुष्य की नैतिक जरूरत के रूप में स्वीकार्य होनी ही चाहिए। अपने 'स्वत्व' का त्याग करके नारी क्या कोई भी नैतिक नहीं बना रह सकता है। क्योंकि बिना इच्छा स्वातंत्र्य के, नैतिकता का कोई प्रसंग ही नहीं बनता है और जिसने अपने 'स्वत्व' का त्याग कर दिया हो, उसके प्रसंग में इच्छा स्वातंत्र्य का कोई संदर्भ नहीं बनता है!'[44] इसलिए नैतिकता का प्रधान सरोकार 'स्वतंत्रता' और 'आत्मनिर्भरता' के संदर्भ से ही तय होता है। कहना न होगा कि 'आत्मनिर्भरता' के अभाव में 'अंतर्निर्भरता' का कोई प्रसंग ही नहीं बनता है। 'यौन साहचर्य' पर नैतिकता के अतिकेंद्रन का ही नतीजा है कि शोषण और तिकड़म से अवैध धन-संपदा में वृद्धि करनेवाला अपनी पोल खुलने पर भी 'नैतिक' और 'आदरणीय' बना रहता है, जबकि विवाहेतर यौन-साहचर्य का आरोपी मुँह चुराता फिरता है। हालाँकि यह स्थिति थोड़ी बदल भी रही है। लेकिन यह बदलाव नैतिकता के परिप्रेक्ष्य को सही करने के बदले नैतिकता को बेमानी बनाने की दिशा में ही आगे बढ़ रहा है। (देखें 1.11)

1.15 यौन-साहचर्य पर नैतिकता को केंद्रित करने में धर्म भी एक बड़ी भूमिका अदा करता है; धर्म आश्रित नैतिकता के हवाले से हंगामा खड़ा करनेवाला खुद माइकल जैक्सन की टोपी पहनकर वैलेंटाइन का विरोध करता है! अपनी इस भूमिका के अनुरूप ही नैतिकता के केंद्रन का दूसरा प्रक्षेत्र 'धर्म' प्रदान करता है। नैतिक विचार अक्सर अपना अनुमोदन धार्मिक मान्यताओं और आसमानी किताबों से प्राप्त करता है। 'धर्म' अपने स्वभाव से ही विषमता, चाहे वह सामाजिक हो, लैंगिक हो या फिर किसी अन्य आधार पर विकसित होनेवाली विषमता ही क्यों न हो, का पोषक होता है। उसके शीर्ष पर ईश्वर होता है और निचले पायदानों पर 'भाग्य -विधाता का गुन गाता हुआ फटा सुन्ना पहने हरचरना होता है'।[45] दरअसल, धर्म का नैतिक आग्रह सामाजिक विषमता को मुलायम बनाता है। धर्म अपने माननेवालों के एक होने की बात बताता है। 'राजा' और 'रंक', 'चोर' और 'गृहस्थ', 'शोषक' और 'शोषित' के एक होने का भ्रम फैलाता है। आधुनिक राष्ट्रवाद के उदय के साथ ही नैतिकता का एक केंद्र 'देशप्रेम' हुआ। राष्ट्र के साथ व्यक्ति और समुदाय के समतामूलक संबंधों को स्पष्ट रूप से सुपरिभाषित किए बिना फैलाया गया राष्ट्रवाद न सिर्फ कुत्सित और भ्रामक

होता है, बल्कि आर्थिक शोषण के साथ ही लोगों के देशप्रेम की निश्छल भावनाओं के शोषण का आधार भी रचता है। राष्ट्रप्रेम को धार्मिक प्रतीकों से अभिव्यक्त एवं पुष्ट करने के कारणों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। नवनैतिकता को 'यौन-साहचर्य', 'धर्म' और 'कुत्सित राष्ट्रवाद' पर अतिकेंद्रन से बचाकार रोजी-रोजगार, आधिकारिता एवं अवसर की स्वतंत्रता, वैज्ञानिक सचेतनता, साझी-मानवीयता और पर्यावरणीय भूमंडलीकरण की समतामूलक आकांक्षाओं से जोड़कर समझा जाना चाहिए। (देखें 1.13) इतिहास से भारोसा प्राप्त करते हुए माना जा सकता है कि नवनैतकिता के लिए निश्चित ही नये नायकों का आविर्भाव होगा।

1.16 बहरहाल, छलनायक नवनैतिकता के साथ चल नहीं सकते हैं। नवनैतिकता की कशिश है कि 'निसार मैं तेरी गलियों के ऐ वतन के: जहाँ/ चली है रस्म के: कोई न सर उठा के चले/ जो कोई चाहनेवाला तवाफ़ (परिक्रमा) को निकले/ नज़र चुरा के चले जिस्म-ओ-जाँ बचा के चले'[46]। नवनैतिकता की गहरी आकांक्षा में एक ऐसे समाज का सपना निहित है जहाँ 'चित्त भय शून्य हों, जहाँ सिर ऊँचा हो, जहाँ ज्ञान मुक्त हो।'[47] सिर्फ कुछ लोगों का नहीं बल्कि अधिकतम लोगों का चित्त भय शून्य हो, सिर उँचा हो, ज्ञान मुक्त हो। यह सपना नवनैतिकता की आँख में बसता है। इस सपना का संबंध नैतिकता की प्रगतिशील चेतना से है। इसका सीधा संबंध रोजगार से है। रोजगार आज का केंद्रीय सरोकार है। इश्क, इसमें देह भी शामिल है और देहातीत भी शामिल है, मनुष्य की चेतना की प्रमुख संचालिका शक्ति है। आदमी को रोजगार भी चाहिए और इश्क भी चाहिए, और एक ही साथ चाहिए ! ग़ालिब को संतोष था कि 'गम अगरचे जाँगुसिल है, प कहाँ बचें, कि दिल है / ग़म-ए-इश्क न होता ग़म-ए-रोजगार होता'[48]। नवनैतिकता को 'ग़म-ए-इश्क' और 'ग़म-ए-रोजगार' दोनों से एक साथ पार पाने की तैयारी करनी है।

===============

## संदर्भः


1.लेनिनः समाजवाद और धर्मः संग्रहीत रचनाएँ, खंड-10, नेशनल बुक एजेंसी

2.प्रफुल्ल कोलख्यानः साहित्य समाज और जनतंत्रः आलोचना – जनवरी 2001

3.हैबरमास का संदर्भ लें

4.कबीरदासः मोहे सुनि सुनि लागे हाँसी, जल बीच मीन पियासी।

5.गीताः अध्याय – 18(66) सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि शुचः।।
6.प्रेमचंदः विविध प्रसंग – 2 : राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता
7.मानव विकास रिपोर्ट - 2002
8.मानव विकास रिपोर्ट - 1996
9.प्रो. अमर्त्य सेनः आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य अकाल और अन्य विपदाएँ (अनु. भवानी शंकर बागला)
10.फ़ैज अहमद फ़ैजः नक्शे फरियादीः सारे सुखन हमारेः राजकमल प्रकाशनe
11.श्यामाचरण दुबेः संक्रमण की पीड़ाः भौतिक विकासः व्यक्ति का विकास
12.कबीरदासः सुखिया सब संसार है, खाबे अरु सोवे। दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवे।।
13.श्यामाचरण दुबेः संक्रमण की पीड़ाः सामाजिक विकास के आयाम
14.THE FUTURE OF FREEDOM : ILLIBERAL DEMOCRACY AT HOME AND ABROAD- By Fareed Zakaria
(INDIA TODAY : 5 MAY 2003)
15.अमर्त्य सेन (अनुवाद- नदीम): विषमता एक पुनर्विवेचनः राजकमल प्रकाशन
16.ग़ालिबः दीवान-ए-ग़लिबः राजकमल पेपर बैक्सः अली सरदार जाफ़री
17.द टाइम्स ऑफ इंडिया (नई दिल्ली) 21 मार्च 2002
18.Ecological Globalisation based on Sustainable Livelihoods
19.RIO, JOHANNESBURG AND BEYOND (India's progress in Sustainable Development - LEAD India - Orient Longman Pvt. Ltd. 2002
20.अमर्त्य सेन (अनुवाद- नदीम): विषमता एक पुनर्विवेचनः राजकमल प्रकाशन
21.'Equalities' के अर्थ में
22.'Uniformities' के अर्थ में
23.'Inter-linked' के अर्थ में
24.'Inter-locked' के अर्थ में
25.Postulate के खास अर्थ में
26.प्रो. श्यामाचरण दुबेः समय और संस्कृतिः भारतीयता की तलाश
27.Dr. Babasaheb Ambedkar : "Revolution and Counter Revolution in Ancient India" Writings and speeches, Volume 3 ( Bombay Govt of Maharashtra, 1987)
28.एम. के गाँधीः वर्णाश्रम धर्मः नवजीवन ट्रस्ट

29.Public and Private

30.Overlaping के अर्थ में

31.Pareto Optimality- अन्य किसी को हानि पहुँचाये बिना किसी को लाभ पहुँचाना संभव न हो तो यह पैरेटो कुशलता कहलाती है

32.Categorical Mistake के अर्थ में

33.फ़ैज अहमद फ़ैजः प्रतिनिधि कविताएँ: राजकमल प्रकाशन

34.प्रफुल्ल कोलख्यानः माँ का क्या होगाः आलोचना – भीष्म साहनी स्मृति अंक

35.फ़ैज अहमद फ़ैजः प्रतिनिधि कविताएँ: राजकमल प्रकाशन

36.रघुवीर सहायः लोग भूल गये हैः राजकमल प्रकाशन

37.गीताः अध्याय-11(8): न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगेश्वरम।।

38.प्रफुल्ल कोलख्यानः समकालीन सृजन – आधुनिकता की पुनर्व्याख्याः विचार, समाज और साहित्य

39.Huntington : Clashes of Civilization

40.निराला

41.विनोद कुमार शुक्लः अतिरिक्त नहीं

42.भगवत रावतः सच पूछो तो

43.विष्णु खरेः सब की आवाज के पर्दे में: लालटेन जलाना

44.प्रफुल्ल कोलख्यानः यशपाल साहित्य – नैतिकता की सामाजिक तलाशः इंद्रप्रस्थ भारती 2003

45.रघुवीर सहायः अधिनायकः आत्म हत्या के विरुद्धः राजकमल प्रकाशन

46.फ़ैज अहमद फ़ैजः प्रतिनिधि कविताएँ: राजकमल प्रकाशन

47.रवींद्रनाथ ठाकुरः नैवेद्यः प्रार्थना

48.ग़ालिबः दीवान-ए-ग़लिबः राजकमल पेपर बैक्सः अली सरदार जाफ़री